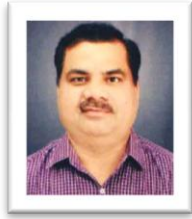


समाज की प्रकृति एवं दार्शनिक आधार

सारांश

समाज के स्वरूप अथवा प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए समाज दार्शनिकों ने अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं परन्तु उन विचारों में समाज की प्रकृति को स्पष्ट रूप से बताने वाले तीन ही सिद्धान्त हमें समाज दर्शन में मिलते हैं। एक आंगिक सिद्धान्त, दूसरा व्यक्तिवादी सिद्धान्त तथा तीसरा अद्वैतवादी अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्त। तीनों सिद्धान्त अपनी-अपनी दृष्टि से समाज के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। समाज के स्वरूप की जटिलता को देखते हुए, समाज के निर्माण में किसी एक सिद्धान्त को नहीं माना जा सकता। समाज एक ऐसा जटिल प्रत्यय है जिसके स्वरूप को जानने के लिए मनुष्य एवं समाज के सम्बंध को स्पष्ट करने वाले सभी सिद्धान्तों का अध्ययन अति आवश्यक है। समाज की प्रकृति के अध्ययन से ही यह सम्बन्ध स्पष्ट हो पाता है। अतः विभिन्न समाज दार्शनिकों की दृष्टि से इस शोध पत्र में समाज की प्रकृति से सम्बन्धित सिद्धान्तों को बताने का प्रयास किया गया है।



पीताम्बर दास

असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी
विद्यापीठ, वाराणसी

मुख्य शब्द : समाज, प्रकृति, दार्शनिक, सिद्धान्त, सम्बन्ध, आंगिक, व्यक्तिवाद, आध्यात्मिक, अमूर्त, समूह, समितियाँ, इकाई।

प्रस्तावना

जब हम इस सृष्टि के बारे में विचार करते हैं तो पाते हैं कि समाज केवल मनुष्यों में ही नहीं पाया जाता अपितु पशुओं में भी पाया जाता है। समाज के आवश्यक लक्षण समानता, भिन्नता, संगठन, सहयोग एवं अन्योन्याश्रितता पशुओं में भी देखे जा सकते हैं। पशुओं में समान स्वार्थ और लक्ष्य रखने वाले पशु एक साथ रहते हैं। मृग मृगों के साथ, गाय गऊओं के साथ और घोड़े घोड़ों को साथ रहते हैं। पशु समाज में समानता के साथ भिन्नता भी होती है। जैसे चींटियाँ अथवा मधु-मक्खियों के समाज में एक रानी होती है, कुछ नर होते हैं और अधिकतर मजदूर होते हैं। इनमें व्यवस्थित श्रम विभाजन रहता है, परस्पर सहयोग रहता है और भिन्न-भिन्न जीव संगठित रूप में कार्य करते हैं। सभी एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित रहते हैं। यहां यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि समाज के ये लक्षण पशु समाज में अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित रूप में रहते हैं। वे मानव समाज के समान विकसित और जटिल नहीं होते। इनमें सामाजिक सम्बन्ध बहुत सीमित होते हैं और सामाजिक ढाँचा बहुत सरल होता है। परस्पर उपस्थिति की प्रतीति के रूप में मनोवैज्ञानिक तत्व पशु समाज में भी देखा जा सकता है, परन्तु फिर उनमें मनुष्यों के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। पशु समाज की तुलना में मनुष्य समाज अधिक जटिल है और उसमें मनोवैज्ञानिक तत्व भी अधिक जटिल होते हैं।

हम यहां स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि पशुओं में समाज तो होता है परन्तु संस्कृति नहीं होती। संस्कृति में वह सब सम्मिलित है जो मनुष्य ने मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में अर्जित किया है। वह हमारे रहने और सोचने के ढंगों में, दैनिक कार्य कलाओं में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन और सुखोपभोग में, हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है। स्पष्ट है कि संस्कृति पशुओं में नहीं पाई जा सकती। वह केवल मानव समाजों में ही पाई जाती है। वह पीढ़ी दर पीढ़ी मानसिक रूप से संचारित होती है जो आदर्शात्मक होती है जबकि पशु आदर्शों, नियमों और प्रतिमानों के विषय में सोच समझ नहीं सकते। संस्कृति संचारशील है अर्थात् एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रहती है। पशुओं में अधिकतर सीखना प्रयत्न और भूल से होता है और अनेक कार्य सहज क्रिया के रूप में होते हैं। वे पिछली पीढ़ी के अनुभवों से लाभ नहीं उठा सकते। संस्कृति में समूह के विश्वास, आदर्श, व्यवहार, विचार आदि सम्मिलित होते हैं, पशुओं में ये नहीं होते। संस्कृति में निर्णय और मूल्य सम्मिलित होते हैं। पशु में निर्णय करने की

सामर्थ्य नहीं होती और न उसमें मूल्य ही होते हैं। पशुओं में मानव भाषा या तो होती ही नहीं अथवा अत्यन्त अविकसित रूप में होती है। इसलिये उनमें किसी भी प्रकार की भौतिक अथवा अभौतिक संस्कृति नहीं देखी जा सकती हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यहां तक तो बहुत से पशु उसके समान हैं क्योंकि वे भी सामाजिक प्राणी हैं परन्तु मनुष्य सामाजिक होने के साथ-साथ सांस्कृतिक प्राणी भी है, जबकि पशुओं में संस्कृति नहीं होती। अतः पशुओं में समाज तो होता है, परन्तु संस्कृति नहीं होती।

साहित्यावलोकन

प्रस्तुत शोध पत्र से सम्बंधित महत्वपूर्ण सामग्री मुझे डॉ० शिवमानु सिंह जी की पुस्तक 'समाज दर्शन का सर्वेक्षण' के पृष्ठ संख्या 53 से 57 पर मिली है। यह पुस्तक शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष 2001 में प्रकाशित हुई है। कुछ सामग्री डॉ० रामनाथ शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'समाज दर्शन' के पृ० सं० 43 से 59 पर उपलब्ध है। यह पुस्तक केंदारनाथ रामनाथ एण्ड कम्पनी द्वारा वर्ष 1990 में प्रकाशित हुई है। भारतीय समाज दर्शन से सम्बन्धित प्रमुख सामग्री गीता रानी अग्रवाल जी की पुस्तक 'भारतीय समाज दर्शन (धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में)' के पृ० सं० 173 से 217 पर उल्लेखित है। यह पुस्तक न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, जवाहर नगर, दिल्ली द्वारा वर्ष 2008 में प्रकाशित हुई है। महत्वपूर्ण सामग्री जे० एस० मेकेन्जी की पुस्तक 'समाज दर्शन की रूपरेखा' जिसके रूपान्तरकार डॉ० अजित कुमार सिन्हा जी हैं के पृ० सं० 25 से 38 पर लिखित है। यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० नई दिल्ली द्वारा वर्ष 2009 में प्रकाशित है। उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सोसल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के ग्यारहवें अंक, व००३, जुलाई-2016 के अंक में पृ० सं० 75-83 पर प्रकाशित डॉ० पिताम्बर दास के द्वारा लिखित शोध पत्र "भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ" में भी कुछ सामग्री विद्यमान है तथा उक्त फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित दूसरी पत्रिका "रिमार्किंग एन ऐनेलाइजेशन" के नवें अंक, व०० 1, दिसम्बर, 2016 के पृ० सं० 133-140 पर प्रकाशित डॉ० पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'समाज दर्शन की पद्धतियाँ' में भी महत्वपूर्ण लिखित सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के व०० 5, अंक 10, जून-2018 के पृ० सं० 58-64 पर डॉ० पिताम्बरदास जी के शोध पत्र 'मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन' में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका 'श्रृंखला एक शोध परक वैचारिक पत्रिका' के व०० 5, अंक-12, अगस्त-2018 में डॉ० पिताम्बर दास जी द्वारा प्रकाशित शोध पत्र 'संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके दार्शनिक आधार' में भी कुछ सामग्री विद्यमान है।

शोध पत्र का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र में मनुष्य एवं समाज के मध्य सम्बंध को स्पष्ट करने वाले विचारों की विवेचना करने का प्रयास किया गया है। समाज के स्वभाव अथवा प्रकृति को स्पष्ट करने वाले विचारों पर समाज दर्शन में कम ध्यान

की तरह कला, कानून, नैतिकता, साहित्य, संगीत आदि का विकास नहीं हुआ है।

दिया गया है। अतः इस शोध पत्र के माध्यम से मैंने समाज के स्वरूप को विस्तृत रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया है ताकि विषय विशेषज्ञों के समझ में समाज का स्वभाव अच्छी तरह से आ सकें।

समाज की परिभाषा

सामान्य रूप से समाज शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है, जैसे महिला के समूह को महिला समाज कहते हैं तथा कुछ विशेष संस्थाओं को भी समाज कहा जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि। अतः समाज की एक ऐसी निश्चित परिभाषा होनी चाहिये जिससे उसे अन्य मानव समूहों से पृथक किया जा सके। समाज सामान्य है, अमूर्त है और अमूर्त सम्बन्धों की एक व्यवस्था है जो मानव समाज में पायी जाती है। समाज को सीमित नहीं किया जा सकता। उसमें समस्त मानव सम्बन्ध और व्यवहार आ जाते हैं। समाज व्यक्तियों में नहीं बल्कि उनकी परस्पर क्रियाओं तथा परस्पर सम्बन्धों में पाया जाता है। समाज इन परस्पर सम्बन्धों का एक पेचीदा ढाँचा है, एक व्यवस्था है, एक प्रतिमान है। प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज के अनुसार, " समाज सामाजिक सम्बन्धों एक ताना-बाना है, जो मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों में व्यक्त होता है।" समाज अमूर्त है क्योंकि वह मनुष्यों के व्यवहारों, सामाजिक सम्बन्धों, रीतिरिवाजों और नियमों आदि का योग है। समाज एक वह अमूर्त समूह है जो दो या अधिक सदस्यों के बीच स्थित परस्पर सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है। अतः मनुष्यों में जहाँ भी किसी प्रकार के अच्छे या बुरे, उचित या अनुचित कोई भी सम्बन्ध है वहाँ पर समाज है। मैकाइवर और पेज के अनुसार, " समाज सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने के साथ चलनों और कार्यविधियों की, प्रभुत्व और परस्पर सहायता की, अनेक समूहों और श्रेणियों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वच्छन्दताओं की एक व्यवस्था है। इस परिभाषा के अनुसार समाज एक परिवर्तनशील और जटिल व्यवस्था है। उसमें मनुष्य की विभिन्न प्रक्रियायें व्यवसाय, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य क्रियायें एक-दूसरे के साथ मेल-जोल, अधिकार और कर्तव्य इत्यादि मानव जीवन के विभिन्न पक्षों के व्यवहार सम्मिलित हैं। उसमें मनुष्यों के समूह, समुदाय, समितियाँ तथा वर्ग आदि विभाग भी सम्मिलित हैं। अतः इस परिभाषा के अनुसार समाज मनुष्यों के परस्पर व्यवहार, अन्तःक्रियाओं और सामूहिक प्रणालियों का एक जटिल ताना-बाना है।

समाज की प्रकृति

समाज की परिभाषा से समाज का प्रत्यय बहुत कुछ स्पष्ट हुआ है। अब समाज के मुख्य लक्षणों की विवेचना से समाज का प्रत्यय और अधिक स्पष्ट होगा। समाज समानता और विभिन्नता दोनों के बिना नहीं रह सकता। समानता और विभिन्नता दोनों परस्पर विरोधी अवश्य है परन्तु समाज के लिये दोनों ही आवश्यक हैं, क्योंकि समाज एक गतिशील और विकासमान व्यवस्था है। समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है। इस व्यवस्था में कभी-कभी समानता से अधिक विषमता में आकर्षण है,

क्योंकि विभिन्न व्यक्ति अथवा वर्ग कभी-कभी विभिन्नता के कारण ही एक दूसरे के पूरक होते हैं। मानव समाज मनुष्यों से ही मिलकर बनते हैं क्योंकि मनुष्यों में स्वभाव से ही मूलभूत तत्व सभी जगह और सभी समय में लगभग एक से होते हैं। उदाहरण के लिये सभी देशों में और सभी युगों में स्त्री पुरुष का एक दूसरे के प्रति मधुर आकर्षण पाया गया और भविष्य में भी कभी इस आकर्षण के न रहने की कल्पना नहीं की जा सकती। मानव समाज का आधार स्तम्भ परिवार समूह इस आकर्षण पर टिका है। मानव समाज अनेक समाजों में बंटा हुआ है। इन विभिन्न समाजों की रूचियों, परम्पराओं, व्यवहारों आदि में भारी अन्तर दिखाई पड़ता है और इसी कारण एक समाज के लोगों को विदेशी समझते हैं। परन्तु एक समाज के लोगों में परम्पराओं, लोक व्यवहारों, रूढ़ियों आदि की समानता के कारण बड़े दृढ़ सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। इस प्रकार वास्तव में मानव समाज की नींव समानता पर आधारित है। समाज मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों एवं क्रियाओं के संगठन अथवा व्यवस्था को कहते हैं। इन सम्बन्धों में कुछ न कुछ समानता या एकरूपता होना आवश्यक है। वास्तव में सामान्य स्वार्थ अथवा सामान्य लक्ष्य के बिल्कुल न होने पर सामाजिक सम्बन्धों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहावत है कि "समान शील व्यसनेषु संख्यम्" अर्थात् समान शील स्वभाव वाले मिलकर अथवा समाज बनाकर रहना पसन्द करते हैं। मृगाः मृगैः सगमनुब्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरगैः" अर्थात् मृग मृगों के साथ, गौ गौओं के साथ तथा घोड़ों के साथ रहते हैं। अरस्तू के अनुसार, "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसका कारण मनुष्य की अन्य मनुष्यों से समानता, समान आवश्यकतायें, समाज भावनायें, समान उद्देश्य और समान अनुभूतियाँ आदि हैं। इसी समानता से सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है। इसी से अनुभूतियाँ आती हैं। इसी समानता से सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है। इसी से मनुष्य मात्र की एकता की भावना पैदा होती है। इसी से मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, भाई चारा बढ़ता है। मनुष्यों में समानता की भावना बढ़ने के साथ-साथ समाज का दायरा भी बढ़ता जाता है। प्राचीनकाल में रक्त सम्बन्धियों को समान समझे जाने से जनजातियों का निर्माण हुआ। समानता की भावना के फैलने से जनजातीय समाज बढ़कर राष्ट्रीय समाज हो गया। इसी भावना के और बढ़ने से आज मानव समाज की बात की जाने लगी है।

मैकाइवर और पेज के अनुसार, " प्रारम्भिक समाज और हमारे समकालीन कुछ आदिम समाजों में समानता की भावना रक्त सदस्यों अर्थात् वास्तविक या माने हुए रक्त सम्बन्धों पर केन्द्रित है। आधुनिक समाजों में सामाजिक समानता की अवस्थायें परिवर्तित हो गई हैं, परन्तु समानता की मौलिक धारणा जिसको आदिम मानव ने रक्त सम्बन्धियों से जोड़ दिया था, राष्ट्रीयता जैसे संगठन के विस्तृत सिद्धान्त में अब भी मौजूद है और यदि एक विश्व का संघर्षरत सिद्धान्त विजयी होता है तो वह अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण मानव जाति की मूलभूत एकता पर आधारित होना चाहियें।"

सामाजिक भिन्नता

केवल समानता ही समाज का एक मात्र लक्षण नहीं है, अपितु सामाजिक सम्बन्धों में भिन्नता भी समाज का एक आवश्यक तत्व है। परस्पर आदान-प्रदान भिन्नता पर ही आधारित है। मानव समाज में स्त्री-पुरुष के दृढ़ सम्बन्ध समानता पर आधारित न होकर भिन्नता पर आधारित है। समान लिंग वाले व्यक्तियों की अपेक्षा भिन्न लिंग वाले व्यक्तियों में आपस में अधिक आकर्षण होता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड के अनुसार पुत्री पिता को और पुत्र माता को अधिक चाहता है। भिन्नता के आधार पर ही लोग एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। यदि मनुष्य में सभी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से एक होते तो उनके सामाजिक सम्बन्ध बहुत सीमित रहते और उनका सामाजिक ढांचा चीटियों या मधुमक्खियों के समाज की तरह होता, जिसमें एक रानी होती है, कुछ नर होते हैं और अधिकतर मजदूर होते हैं। मानव समाज के इतने अधिक समृद्धिशाली होने का कारण उसकी व्यापक विविधता ही है। मनुष्यों के सभी छोटे-बड़े संगठनों, परिवार, जाति, समिति और समुदाय आदि में परस्पर विभिन्नता के कारण लोग एक दूसरे के पूरक होते हैं। मानव समाज की क्रियायें आदान-प्रदान पर आधारित हैं। यह परस्पर विनिमय विशेष रूचि, क्षमता तथा अभिरूचि आदि की भिन्नता के कारण ही है। विवाह की संस्था तथा यौन सम्बन्ध जैविक भिन्नता के ही कारण है। श्रम विभाजन समाज के आर्थिक ढांचे का आधार है। यह इसी कारण है कि हर एक व्यक्ति हर एक कार्य अन्तों से अच्छा कर सकता है। विभिन्नता न हो तो समाज की बहुत सी आर्थिक क्रियायें ठप्प हो जायें। समाज में अधिकारों और कर्तव्यों की का निश्चय भिन्नता के आधार पर ही होता है। राजा, प्रजा, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, स्त्री-पुरुष आदि की भिन्नता के कारण ही उनके अधिकार और कर्तव्य अलग-अलग होते हैं। समाज के सभी सम्बन्धों में व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं और इसीलिए वे एक दूसरे के पूरक होते हैं, जिसके कारण समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव समाज में समानता और भिन्नता दोनों एक उत्तम समाज के लिए अति आवश्यक है। समाज के अस्तित्व, संगठन और विकास के लिये दोनों बातों का होना आवश्यक है। इस संसार में अनेक भिन्न-भिन्न प्रजातियों, राष्ट्रों और देशों के होते हुये भी आज 'एक विश्व' की चेतना बढ़ती जा रही है और विश्व राज्य की कल्पना की जाने लगी है। परन्तु विश्व की यह एकता विभिन्न संस्कृतियों की विभिन्नता को समाप्त करके नहीं प्राप्त की जा सकती। विभिन्नता में एकता विश्व सत्ता का एक महान सत्य है। जैसे स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण का कारण भिन्नता है, परन्तु यदि उनमें किसी भी प्रकार की समानता न हो तो वे मिलकर एक सुखी परिवार की रचना नहीं कर सकते। अतः मनुष्य के समाज में समानता एवं भिन्नता दोनों का विशेष महत्त्व है, जिसको एक उत्तम समाज के निर्माण में अनदेखा नहीं किया जा सकता। इनके अलावा प्रत्येक समाज का एक अपना निजी संगठन होता है, जिसमें किसी न किसी प्रकार का श्रम विभाजन रहता है। एकदम

से असंगठित लोगों को समाज नहीं कहा जा सकता। प्रमुख समाजशास्त्री दुर्खिम कं अनुसार, " कार्य विभाजन के कारण सामाजिक कार्यों में भिन्नता की अपेक्षा सहयोग और सहकारिता अधिक दिखाई पड़ती है। सहयोग पर ही समाज का जीवन टिका हुआ है। समाज में अन्योन्याश्रितता समाज के निर्माण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। मनुष्य अकेले रहकर अपनी आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सकता। इसीलिए उसे समाज की आवश्यकता पड़ती है और वह स्वभाव से ही समाज में रहता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के सदस्य एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

समाज का प्राकृतिक आधार

समाज दार्शनिक मानव समाज की प्रकृति और लक्ष्यों का विवेचन करता है और लक्ष्यों को समझने के पहले प्रकृति को समझना आवश्यक है और प्रकृति के विवेचन से सबसे पहले मानव समाज और समुदायों के मूलाधारों का पता लगाना आवश्यक है अर्थात् हमें यह पता लगाना है कि मानव समाज अथवा समुदाय प्रारम्भ में कैसे बने। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न चिन्तकों ने अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि चिन्तन जगत् में कोई भी समय ऐसा था, जब कि मानव व्यक्ति समाज से बाहर रहता था। सच तो यह है कि समुदाय की उत्पत्ति से यह नहीं समझना चाहिये कि कोई समय ऐसा था जबकि समाज नहीं था और किसी काल में उसकी उत्पत्ति हुई। वास्तव में समाज से अलग व्यक्ति और व्यक्ति से अलग समाज की कल्पना निराधार है। जब हम समाज की उत्पत्ति की बात करते हैं तो हमारा आशय यह पता लगाना है कि मानव प्राणियों को समाज अथवा समुदाय के रूप में बांधने वाले कौन से मूल तत्व थे। क्या मानव समाज पशुओं के समान यूथचारिता या ऐसी ही किसी अन्य मूल प्रवृत्तियों का परिणाम है ? क्या सामाजिक जीवन में विवेक का कोई महत्व है ? क्या लोग परस्पर समझौता करके समाज बनाकर रहने लगे ? अथवा क्या बिना सोचे विचारे ही अपनी मूल प्रवृत्तियों से बाध्य होकर मनुष्य समाज में रहने लगे ? अथवा क्या बिना सोचे विचारे ही अपनी मूल प्रवृत्तियों से बाध्य होकर मनुष्य समाज में रहने लगे ? समाज के प्राकृतिक आधार के विषय में समाज दार्शनिकों ने मुख्य रूप से निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं :-

व्यक्तिवादी अथवा सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध के बारे में प्रमुख सिद्धान्तों में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को माना जाता है। पाश्चात्य दर्शन की सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स नामक दार्शनिक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ लेवियाथन में कहा है कि मनुष्य को उसकी उच्छृंखल, पाशविक तथा स्वार्थी प्रवृत्तियों से बचाने के लिये समाज का निर्माण हुआ। ऐडम स्मिथ एवं उसके अनुयायियों के अनुसार समाज पारस्परिक अर्थ व्यवस्था चलाने के लिये बनाई गई एक कृत्रिम पद्धति है। 18वीं शताब्दी में फ्रेंच दार्शनिक रूसो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सोशल कॉन्ट्रैक्ट में इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया कि व्यक्तियों ने आपस में समझौता करके समाज का निर्माण किया। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकों में जॉन लॉक तथा हॉब हाउस है। इस सिद्धान्त

के अनुसार प्रकृति में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र उत्पन्न हुये। व्यक्ति समाज के पहले था। उसके समाज के बाहर भी अपने कुछ विशेष अधिकार होते हैं। व्यक्तियों ने आपस में समझौता करके समाज को जन्म दिया और उसको कुछ अधिकार सौंपे। इस प्रकार समाज एक कृत्रिम रचना है और उसे व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों को छीनने का कोई अधिकार नहीं है। समाज व्यक्ति के अधिकारों पर केवल उस सीमा तक नियन्त्रण कर सकता है, जहाँ तक कि उसको अधिकार सौंपे गये हैं। मैकाइवर और आधुनिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को सर्वथा भ्रान्त माना है। यह सिद्धान्त न तो ऐतिहासिक तथ्यों पर और न तार्किक सत्यों पर आधारित है। इस सिद्धान्त की यह कल्पना सही नहीं प्रतीत होती है कि मानव प्राणी समाज से पृथक या बाहर भी रह सकते हैं। दूसरे, इस सिद्धान्त की यह कल्पना भी ठीक नहीं है कि व्यक्ति मानव समाज बनने से पहले ही बन चुके थे, क्योंकि सामाजिकरण व्यक्तित्व विकास की एक आवश्यक शर्त है। वास्तव में समाज या व्यक्ति के पहले अथवा बाद में होने का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता और समाज के बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ मनुष्यों को मानव समाज के बाहर रहना पड़ा है, वहाँ उनका विकास कभी नहीं हो सका। भेड़ियों द्वारा पाले हुये मनुष्यों के बच्चों के उदाहरणों से यह बात पुष्ट होती है। इस प्रकार समाज के बनने से पहले व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना भ्रांतिपूर्ण है। समाज एवं व्यक्ति का अस्तित्व अलग-अलग नहीं हो सकता।

सामान्य संकल्प की धारणा का सिद्धान्त

कुछ समाज दार्शनिक व्यक्तिगत संकल्प से अलग एक सामान्य संकल्प (General Will) को भी समाज का एक स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार यह संकल्प समूह का संकल्प है और एक ऐसा संकल्प है जिसमें कि समूह के सभी व्यक्तियों के संकल्प शामिल हैं। इस सामान्य संकल्प का तात्पर्य एक सामूहिक अथवा सामान्य संकल्प से है, जिसकी व्यक्तियों के संकल्प से अलग अपनी ही एक सत्ता है और अपने ही विशेष लक्षण है एवं जिसमें भाग लेने के कारण व्यक्तियों के व्यवहार में कुछ परिवर्तन देखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम समाज दार्शनिक हॉब्स ने अपने ग्रन्थ लेवियाथन में सामान्य संकल्प की व्याख्या की है। हाब्स के बाद लॉक ने अपने ग्रन्थ ट्रीटाइज ऑन गोवर्नमेंट में इस सिद्धान्त की विवेचना की है। मानव समुदाय कहाँ तक सामान्य संकल्प पर आधारित है, इसकी परीक्षा करने के लिये इस विषय में विभिन्न मतों का विवेचन करना होगा जो इस प्रकार है :-

रूसो का मत

रूसो के अनुसार समाज की स्थापना एक सामाजिक समझौते के आधार पर हुई है। समाज के क्रमशः विकास के साथ-साथ लोगों में सामान्य संकल्प का निर्माण हुआ, जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण समाज अथवा समूह का कल्याण होता है। रूसो सामान्य संकल्प को सभी का संकल्प नहीं मानते अर्थात् सामान्य संकल्प व्यक्तिगत संकल्पों का योगमात्र नहीं है, बल्कि उसमें कुछ अपनी विशेषतायें भी हैं। यह व्यक्तिगत संकल्प के समान स्वार्थ पर आधारित न होकर सामान्य संकल्प समूह के हित

पर आधारित होता है। यह निःस्वार्थ होता है। रूसों ने सामान्य संकल्प के तीन लक्षणों के बारे में बताया है अर्थात् स्थायित्व, औचित्य, एकता। सामाजिक समझौते के सम्बन्ध में रूसों के अनुसार, “प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हमसे प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में प्राप्त कर लेता है।” रूसों ने आगे कहा है कि, “ जो कुछ मनुष्य समझौते से खोता है, वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। इसके बदले में जो कुछ वह पाता है वह है नागरिक एवं नैतिक स्वतंत्रता और अपनी सभी वस्तुओं पर सुरक्षित स्वामित्व।” इस समझौते की सामान्य बात यह है कि व्यक्ति के स्थान पर समष्टि तथा व्यक्ति की सामान्य इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा को स्वीकार करना क्योंकि सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जन-हित उसका लक्ष्य होता है। रूसों ने सामान्य इच्छा को अति महत्वपूर्ण माना है जिसे वह असीमित, अविभाज्य एवं विधि का स्रोत कहता है। रूसों का मानना है कि सामान्य इच्छा के द्वारा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है।

मैकडूगल का मत

विलियम मैकडूगल ने समूह व्यवहार की व्याख्या करने के लिये समूह मन का सिद्धान्त उपस्थित किया और इसी के आधार पर उसने सामान्य संकल्प की धारणा की व्याख्या की। उनके अनुसार जब समूह के अधिकांश या सभी लोग किसी विषय पर समूह के कल्याण के लिये एक ही तरह से सोचते हैं तो ऐसी परिस्थिति में एक सामान्य संकल्प दिखलाई पड़ता है।

नोवीकोव का मत

मैकडूगल के मत को ही और अधिक स्पष्ट और परिष्कृत करके नोवीकोव ने सामान्य संकल्प की धारणा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सामान्य संकल्प समूह के सभी सदस्यों का संकल्प न होकर समूह में नेताओं और प्रभावशाली व्यक्तियों का संकल्प होता है। इन्हीं के संकल्प से सामान्य संकल्प बनता है। अन्य लोग इन्हीं का अनुसरण करते हैं और इनके संकल्प को अपना संकल्प मान लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नेता और महान व्यक्ति समाज के शरीर के समान हैं और वे सामान्य संकल्प उपस्थित करके समस्त समाज को मूल आधार प्रदान करते हैं।

जे० एस० मैकेन्जी का मत

मैकेन्जी ने सामान्य संकल्प की धारणा को परिवार के उदाहरण से समझाने की चेष्टा की है। परिवार में परिवार के सभी सदस्यों के कुछ सामान्य हित होते हैं। कुछ बातें सभी के लिये सुविधाजनक होती हैं और कुछ अन्य बातें सभी के लिये असुविधाजनक होती हैं। इस प्रकार की बातों के विषय में परिवार के सभी लोग सहयोग के आधार पर कुछ सामान्य निर्णय करते हैं। इन्हीं निर्णयों को मैकेन्जी सामान्य संकल्प कहता है। यह संकल्प व्यक्तिगत संकल्पों का योगमात्र नहीं है, बल्कि इसमें एक एकता है। इसमें सभी का सहयोग है और यह परिवार के सदस्यों के विभिन्न मतों का समीकरण करता

है। यह परस्पर विचार विमर्श के बाद किया गया है। चाहे इससे परिवार के किसी सदस्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कुछ बाधा भी पड़ती हो परन्तु फिर भी परिवार के सामान्य हित के लिये सभी सदस्य उसको मानते हैं। इसमें मुखिया विशेष रूप से निर्देश देता है। कभी-कभी तो उसका संकल्प ही विचार विमर्श के बाद परिवार का सामान्य संकल्प बन जाता है। जहाँ तक परिवार का प्रश्न है, मैकेन्जी के विचार अनुचित मालूम नहीं पड़ते परन्तु परिवार के अलावा अन्य समूहों में परिवार के सदस्यों जैसी घनिष्टता तथा हितों और लक्ष्यों की एकता नहीं पाई जाती। इसलिये उनमें वह सहयोग भी दिखलाई नहीं पड़ता। अतः मैकेन्जी के सिद्धान्त से भिन्न-भिन्न समूहों में सामान्य संकल्प की धारणा की व्याख्या नहीं होती।

बार्थ का मत

जर्मन मनोवैज्ञानिक बार्थ के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी जीव है और वह अपने ही विषय में सोचता है, परन्तु दूसरी ओर उसकी सामाजिक प्रगति तभी हो सकती है, जबकि वह सामाजिक हित और कल्याण के विषय में सोचे और संकल्प करे। सामान्य संकल्प व्यक्ति को सामाजिक हित के चिन्तन और संकल्प के लिये आधार प्रदान करता है। जब समूह के भिन्न-भिन्न व्यक्ति समान परिस्थितियों और उत्तेजनाओं का अनुभव करते हैं तो उनमें न्यूनाधिक समान प्रतिक्रियायें जागृत होती हैं। प्रतिक्रियाओं की समानता से समूह में आत्म-चेतना जागृत होती है। यह आत्म चेतना ही सामान्य संकल्प का निर्माण करती है।

वुन्ट का मत

बार्थ के समान ही वुन्ट की धारणा के अनुसार जब विभिन्न मनुष्य परस्पर सहयोग से कोई संकल्प उपस्थित करते हैं तो वह एक सामान्य संकल्प होता है। एक संकल्प अन्य संकल्प की पूर्व कल्पना करता है। इस प्रकार से संकल्प की विभिन्न इकाइयों की एक व्यवस्थित शृंखला बन जाती है जिसकी कड़ियों में सापेक्षिक सम्बन्ध होता है। वुन्ट के अनुसार सामान्य संकल्प और वास्तविक संकल्प की प्रक्रिया में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जब किसी समूह में किसी वस्तु के विषय में सामान्य लक्ष्य होते हैं तो समूह के सदस्यों में एक सामान्य संकल्प बन जाता है जिसका कार्य सभी सदस्यों को एक सूत्र में बांधना है। वुन्ट के मत में सामान्य संकल्प व्यक्तिगत संकल्प से अधिक विस्तृत, शक्तिशाली और महत्वपूर्ण नहीं है। अतः सामान्य संकल्प को मानते हुए भी वुन्ट ने व्यक्तिगत संकल्प के महत्व पर जोर दिया है। उनके अनुसार महान एवं प्रभावशाली लोगों के व्यक्तिगत संकल्पों का सामान्य संकल्प पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

बोसांके का मत

पाश्चात्य दार्शनिक बोसांके ने सामान्य संकल्प की व्याख्या दार्शनिक आधार पर की है। बोसांके के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ अपूर्ण हैं जबकि वह समाज रूपी पूर्ण का एक अंश भी है। जिस प्रकार समाज पूर्ण है, उसी प्रकार सामान्य संकल्प भी पूर्ण है। बोसांके ने वास्तविक संकल्प और यथार्थ संकल्प में अन्तर किया है। वास्तविक संकल्प आदर्श संकल्प है। उसके मूल तत्त्व व्यक्ति के आचरण और स्वभाव में विद्यमान हैं। दूसरी ओर

व्यक्तिगत संकल्प यथार्थ है, परन्तु साथ ही अपूर्ण भी है। यथार्थ संकल्पों के संगठित होने पर उनमें वास्तविक संकल्प की पूर्णता देखी जा सकती है। इस प्रकार वास्तविक संकल्प विवेकपूर्ण, उचित और सामाजिक संकल्प है। यही सामान्य संकल्प है। यह व्यक्तिगत यथार्थ संकल्प से ऊँचा है। यद्यपि इसमें अंश के रूप में व्यक्तिगत संकल्प शामिल हैं। बोसांके ने राज्य को सामान्य संकल्प का मूर्तिमान रूप माना है।

आंगिक अथवा अवयवीय अथवा जैविक सिद्धान्त

इस मत के अनुसार समाज जीव के समान एक सावयव रचना है। यह सिद्धान्त प्लेटो, काइस्ट, सन्त पाल और बाद में हर्बर्ट स्पेन्सर के विचारों में मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव एक बृहद प्राणी है जिसका ढाँचा और कार्य वैयक्तिक प्राणी के समान है और जो उन्हीं नियमों के अनुसार विकसित भी होता है। इस समाज शरीर के कोष व्यक्ति है। समितियाँ और संस्थायें इत्यादि उसकी धमनियाँ हैं। स्पेन्सर के अनुसार, "सामाजिक ढाँचों की तुलना एक पशु के शरीर से की जा सकती है, जिसकी पाचन व्यवस्था के समान समाज में औद्योगिक और कृषि की व्यवस्था हैं, हृदय, नाडियों और धमनियों के साथ रक्त प्रवाह की व्यवस्था एक राष्ट्र के यातायात और सन्देशवाहन की व्यवस्थाओं के समान हैं, नाड़ी, संस्थान सरकार के समान है और इसी प्रकार और भी है।"

आदर्शवादी अथवा अद्वैतवादी सिद्धान्त

अब तक के विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामान्य शुभ का सिद्धान्त समाज दर्शन में व्यक्ति प्रधान और समष्टि प्रधान सिद्धान्तों के मध्य एक समझौता है। इसके अनुसार न तो वैयक्तिक स्वार्थ ही सम्पूर्ण शुभ है और न सामाजिक स्वार्थ ही एकमात्र साध्य है। मानव व्यक्तित्व की खोज पूर्ण से पृथक्करण में नहीं बल्कि उसके अन्दर एक निश्चित स्थान को पूरे हृदय से ग्रहण करने में की जानी चाहिए। पूर्ण से सम्बन्ध रखने में ही व्यक्ति की सत्ता है। यह पूर्ण का एक अविभाज्य अंग है। यह सिद्धान्त प्लेटो, अरस्तू इत्यादि प्राचीन दार्शनिक एवं फिख्टे, शेलिंग, हेगेल, ग्रीन, ब्रैडले, मैकेन्जी, म्यूरहैड, जेम्स सेथ आदि आदर्शवादी समाज दार्शनिकों के विचारों में पाया जाता है।

समाज के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ० शिवभानु सिंह जी ने अपनी पुस्तक "समाज दर्शन का सर्वेक्षण" पृष्ठ संख्या 53 से 57 पर उपरोक्त सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए तीन सिद्धान्तों को बताया है, जो निम्नवत है :- (1) जैविक सिद्धान्त (2) व्यक्तिवादी सिद्धान्त (3) अद्वैतवादी सिद्धान्त।

(1) जैविक सिद्धान्त जिसको अंग्रेजी में Organic Theory कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को जीवित प्राणी के उदाहरण से समझने का प्रयास किया गया है। मानव शरीर जिस प्रकार विविध अंगों से मिलकर बना है उसी प्रकार समाज की संरचना भी अनेक अंगों से हुयी है। अंगों के स्वतंत्र रूप से जैसे शरीर का अस्तित्व होता है वैसे ही व्यक्तियों से अलग समाज का भी अस्तित्व है। परन्तु शरीर से

पृथक उसके अंगों की कल्पना नहीं की जा सकती, ठीक उसी प्रकार समाज से अलग व्यक्तियों के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस प्रकार शरीर का विकास होता है, उसमें परिवर्तन होता है, उसी प्रकार समाज का भी विकास होता है, उसमें भी परिवर्तन होता है।

जैविक सिद्धान्त के तथ्यों एवं विचारों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि इसका प्रतिपादन अत्यन्त प्राचीन काल से ही किया गया है। प्लेटो ने भी समाज और राज्य की तुलना प्राणि के शरीर से की थी अर्थात् उन्होंने समाज और राज्य की तुलना एक विशालकाय मनुष्य से की है तथा राज्य के शासक योद्धाओं तथा साधारण कार्य करने वाले मनुष्यों को उसने व्यक्ति की बुद्धि, साहस तथा इच्छा और आवश्यकता का प्रतीक माना है। प्लेटो के समान ही सिसरो ने भी समाज की तुलना शरीर से की है तथा राज्य के शासक को आत्मा के समान माना है। जिस प्रकार आत्मा का शरीर पर नियन्त्रण होता है उसी प्रकार शासक समाज पर शासन करता है। कान्ट के पूर्ववर्ती जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक फीख्टे का मानना है कि प्राणि शरीर के प्रत्येक भाग सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करता है ठीक इसी प्रकार का सम्बन्ध नागरिक तथा समाज या राज्य के बीच होता है। ब्लैंडशली ने भी समाज को सजीव मानव के रूप में निरूपित किया है, जिसमें पुरुषोचित गुण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध ब्रिटिश विकासवादी हर्बर्ट स्पेंसर ने तो जैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया। उन्होंने भी समाज शरीर और प्राणी शरीर की तुलना करके क्रमिक विकास के आधार पर समाज की व्याख्या की है। दोनों ही, स्पेंसर के अनुसार सजीव हैं तथा उनकी जीवन-धारणा की प्रक्रिया एक समान है। उन्होंने भी सामाजिक शरीर तथा प्राणी शरीर में बनावट सम्बन्धी, प्रकृति सम्बन्धी, प्राण सम्बन्धी एवं विचार सम्बन्धी समानताओं का निरूपण किया है। उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा है कि शरीर में मस्तिष्क का जो स्थान होता है, सामाजिक शरीर में राज्य का भी वही स्थान है।

पश्चिमी दर्शन के समान भारतीय धर्मशास्त्रों में भी मानव-समाज की तुलना शरीर से की गई है। वेद के एक मन्त्र के अनुसार ब्राह्मण समाज रूपी शरीर का मुख है, क्षत्रिय भुजायें हैं, वैश्य पेट या जांघे हैं तथा शूद्र उसका पैर है। शुकनीति में भी कहा गया है कि राज्य रूपी शरीर की आंखें अमात्य हैं, कान मित्र होते हैं, मुख कोश होता है, मन सेना होती है और पैर दुर्ग एवं जनपद होते हैं। मानव शरीर और समाज के बीच तुलना के द्वारा विकासवादी तथा अन्य विचारक व्यक्ति तथा समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का निरूपण करना चाहते हैं। वे यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि जिस प्रकार अलग-अलग रहते हुये भी विभिन्न अंग अंगी पर आश्रित होते हैं, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग एवं उनकी इकाइयाँ पृथक होते हुये भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। समाज में ऐसी व्यवस्था होती है कि कुछ व्यक्ति उत्पादन करते हैं, कुछ उसे एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाते हैं। मानव शरीर की भांति समाज भी विकासशील होता है। शरीर की तरह समाज में भी एक केन्द्रीय संगठन होता है जिसे हम सरकार कहते हैं, जो समाज के विभिन्न अंगों

पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार की धारणा के अनुसार समाज की तुलना में व्यक्तियों के अधिकारों का बलिदान किया जा सकता है। व्यक्तियों के हित एवं अधिकार समाज के पूर्णतः अधीन होने चाहिये। इस जैविक सिद्धान्त के अन्दर समाज और व्यक्ति शरीर की तुलना की गयी है, वह देखने में भले ही अच्छी लगे परन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से देखने पर दोनों के बीच केवल आंशिक समानता ही स्थापित की जा सकती है। सादृश्य अनुमान कभी भी यथार्थ निष्कर्ष तक पहुंचने में सहायक नहीं होता है। इस प्रकार के निष्कर्ष केवल संभाव्य ही होते हैं। मानव शरीर के विकास में जिस प्रकार निश्चित अवस्थाएँ होती हैं जैसे बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था आदि। ठीक उसी प्रकार की निश्चित अवस्थाएँ समाज में नहीं देखी जा सकती। अतः जिस प्रकार शरीर का विकास स्वतः और आन्तरिक होता है, ठीक उसी प्रकार समाज का विकास नहीं होता। समाज का विकास इच्छा पूर्ण एवं बाह्य होता है। इसी तरह समाज और उसके अंग पृथक् किये जा सकते हैं जबकि शरीर और उसके अंगों में स्थायी सम्बन्ध होता है जो पृथक् नहीं किया जा सकता है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के बारे में डॉ० शिवभानु जी लिखते हैं कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त व्यक्ति को एक स्वतन्त्र इकाई मानता है जो किसी दूसरे व्यक्ति पर आश्रित नहीं होता है। व्यक्ति को अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिए समाज की आवश्यकता नहीं होती है। वह अपने आर्थिक और अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति समाज के बिना भी कर सकता है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त यह मानता है कि जब कमजोर एवं दुर्बल व्यक्तियों को सशक्त एवं बलवान व्यक्तियों से खतरा होता है तो उन्हें समाज की आवश्यकता का अनुभव होता है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था, रक्षा एवं अवरोध के लिए होती है, न कि पोषण एवं वृद्धि के लिए। यह सिद्धान्त समाज की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक बल देता है। इसकी धारणा का केन्द्र बिन्दु समाज न होकर व्यक्ति है क्योंकि व्यक्ति ही विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है, इसलिए प्रत्येक विचार का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति ही होना चाहिये। व्यक्ति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न समुदायों, समाज, कुटुम्ब, जाति का निर्माण करता है जिनके लिए साध्य व्यक्ति ही है। किसी समुदाय या समाज के हित का तात्पर्य उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के हित में ही है। हमें किसी ऐसी विचारधारा पर बल नहीं देना चाहिये जो व्यक्ति को गौण स्थान प्रदान करती हो। वस्तुतः समाज की स्थापना व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए की जाती है। समाज तो साधन मात्र है, उसको महत्व देने की आवश्यकता नहीं है। उस पर साध्य की अपेक्षा अधिक बल नहीं दिया जाना चाहिये। समाज को व्यक्तियों के क्रिया-कलाप में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये जिससे निर्बाध रूप से व्यक्ति अपने विकास-पथ पर अग्रसर हो सके तथा अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम हो सके। मानव जीवन के जितने भी पक्ष हैं, जैसे- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक, उनमें व्यक्ति को

खुली प्रतिस्पर्धा का अवसर प्राप्त होना चाहिये जिससे कि व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास हो सके। व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति करने में पूर्ण सक्षम होता है। अतः समाज को उसके मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये। समाज विचारकों का सुझाव है कि समाज को यहाँ पर 'यद्भाव्यम्' की नीति का पालन करना चाहिये अर्थात् बिना हस्तक्षेप किये व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयास करने देना चाहिये। व्यक्तिवादी यह सिद्धान्त राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है अर्थात् राज्य-संस्था के उन्मूलन का पक्षधर भी नहीं है। व्यक्तियों के अवांछित असमाजिक आचरण पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए राज्य का होना आवश्यक है। व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करते समय जब दूसरे व्यक्तियों को बाधक पाता है तो वह दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता को समाप्त करने का प्रयास करता है। अतः इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। व्यक्तिवाद की धारणा है कि मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम है, जब तक कि वह अपूर्ण है तब तक राज्य की आवश्यकता है परन्तु जब वह पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो राज्य रूपी संस्था की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार जहाँ तक व्यक्ति की अपूर्णता का प्रश्न है, उस पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए राज्य की आवश्यकता है परन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक होने के कारण राज्य एक आवश्यक बुराई ही है।

अद्वैतवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त की विशेषता है कि यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त का विरोधी है और व्यक्ति को पूर्णरूप से समाज पर आधारित मानता है। समाज से पूर्णतया स्वतंत्र रूप से व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती अर्थात् वे सम्पूर्ण समूह में व्यक्ति मात्र आणविक इकाइयों के रूप में होते हैं, प्रत्येक अन्य पर और प्रत्येक सम्पूर्ण पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित होता है। अद्वैतवादी सिद्धान्त एक ही परमसत्ता में विश्वास करता है और मानता है कि कइस जगत् में जो विविधता, अनेकता है, उसे उसी एक परमसत्ता की अभिव्यक्ति माना जाता है। इस अद्वैतवादी सिद्धान्त के दो रूप हैं:- एक भौतिकवादी एकवाद (Materialistic Monism) तथा दूसरा अध्यात्म अथवा चेतनाविवादी एकवाद (Spiritual Monism)। पहला सिद्धान्त किसी एक भौतिक तत्त्व को परमात्मा के रूप में स्वीकार करता है जबकि दूसरा सिद्धान्त किसी चेतन आध्यात्मिक सत्ता को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। समाज दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवादी व्याख्या के अनुसार समाज में एक चेतन तत्त्व विद्यमान है। मनुष्य एक आध्यात्मिक चेतन प्राणी है और इसी के परिणामस्वरूप विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों के क्रियाकलाप नियंत्रित होते हैं। मनुष्य का सामाजिक और राजनैतिक जीवन उसकी आत्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक वृत्तियों द्वारा संचालित होता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत समाज को प्राकृतिक संस्था माना जाता है, न कि कृत्रिम संस्था। समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है जिसमें मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। व्यक्ति और मनुष्य के हितों में न तो कोई टकराव है, न ही कोई आधारभूत भेद है। व्यक्ति की समष्टि ही पूर्णता

की अभिव्यक्ति है। अद्वैतवाद इस धारणा का समर्थन करता है कि समष्टि ही पूर्णता की अभिव्यक्ति है। यह सिद्धान्त इस धारणा का समर्थन करता है कि संयमित स्वतंत्रता ही वास्तविक आर्थों में स्वतंत्रता है, न कि स्वेच्छाचारिता अथवा स्वच्छन्दता। मनुष्य अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही प्राप्त कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। यह सिद्धान्त समाज को एक आवश्यक बुराई न मानकर एक आवश्यक अच्छाई मानता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार समाज की प्रकृति को अनेक समाज दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु समाज एक ऐसा जटिल प्रत्यय है जिसकी प्रकृति की सही-सही विवेचना करना सरल कार्य नहीं है। मैंने इस शोध पत्र में अपनी एवं दार्शनिकों की दृष्टि से समाज की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्यक्ति एवं समाज के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाले अभी तक उपरोक्त विवेचित सिद्धान्त ही मिलते हैं परन्तु मेरा मानना है कि समाज की प्रकृति वैसी ही होगी जैसी मानव की प्रकृति होगी क्योंकि हम समाज को मूलतः मानव के स्वभाव अथवा प्रकृति में ही पाते हैं और यही कारण है की हम समाज दर्शन में मानव समाज का ही अध्ययन करते हैं क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ० पिताम्बरदास, सामाजिक पुनर्निर्माण में डॉ० भगवानदास के धर्म-दर्शन का योगदान, विश्वज्ञान अध्ययन संस्थान एवं अंकित प्रकाशन, मडॉँव, रोहनिया, वाराणसी, वर्ष-2014
2. प्रो० अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, वर्ष-2006
3. जगदीशसहाय श्रीवास्तव, समाज दर्शन की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष-2002
4. डॉ० शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, वर्ष-2001

5. डॉ० रामनाथ शर्मा, समाज दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड क०, मेरठ, वर्ष-1998
6. डॉ० बी० एन० सिन्हा, समाज दर्शन-सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी।
7. डॉ० पिताम्बर दास, शोध पत्र-मानव स्वभाव की उत्पत्ति' वो० 5, अंक-10, जून-2018, श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, उ०प्र० द्वारा प्रकाशित।
8. डॉ० पिताम्बर दास, शोध पत्र-'समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि' वो० 6, अंक-4, मई-2018, पीरियोडिक रिसर्च पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, उ०प्र० द्वारा प्रकाशित, पृ०सं० 44-50.
9. राहुल सांकृत्यायन, मानव-समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2012
10. जे० एस० मेकेन्जी, समाज-दर्शन की रूपरेखा, रूपान्तरकार, डॉ० अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष-1962
11. संगम लाल पाण्डेय, समाज दर्शन की एक प्रणाली, इलाहाबाद।
12. डॉ० हृदय नारायण मिश्र, समाज दर्शन-सैद्धांतिक एवं समस्यात्मक विवेचन, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2009
13. डॉ० रामजी सिंह, समाजदर्शन के मूल तत्त्व, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983
14. डी० आर० जाटव, भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, वर्ष-2002
15. हेंड्रिक विलोम फ्रान लून. हिन्दी अनुवाद. अरुण कुमार, प्रकाशन संस्थान, अंसार रोड, नई दिल्ली, वर्ष-2014
16. डॉ० पिताम्बर दास, शोध पत्र-संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके दार्शनिक आधार, श्रृंखला एक शोध परक वैचारिक पत्रिका, वो० 5, अंक-12, अगस्त-2018, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित।